

अस्मिता और राष्ट्र का अन्तरसंबंध

Shahjad Alam

Awarded Phd (Hindi) from JNU, Delhi, India

प्रस्तावना

अस्मिताओं के उदय की जब हम बात करते हैं तो उनका एक ऐतिहासिक संबंध भी दिखाई देता है। दुनिया में एक वृहद भूगोल ने गुलामी को देखा है। ऐसे में गुलामी से मुक्ति के लिए और उसके साथ बाजार के बनने के बीच हम राष्ट्र और राष्ट्रीयताओं के उदय को देख सकते हैं। आधुनिक समय में राष्ट्र एक वृहद अस्मिता के रूप में अपनी पहचान रखता है। राष्ट्र की अवधारणा एक आधुनिक अवधारणा है। यह एक ऐसी अवधारणा है, जिसके नाम पर विशाल जनसमूह को एकसूत्र में आधुनिक समय में बाँधा गया है। राष्ट्र के नाम पर एक विशाल जाति विभिन्न तरह के मतभेदों को भुलाकर जहाँ एकसाथ आने के लिए तैयार होती है, वहीं इसी राष्ट्र के नाम पर वह अपने को दूसरे से अलग भी करती है। आज दुनिया की तमाम सभ्यताओं ने अपने को किसी न किसी राष्ट्र के नाम पर संयोजित किया हुआ है और वे अपने को किसी न किसी राष्ट्र के नाम से, राष्ट्रीयता के नाम पर ही परिभाषित करती हैं। इसी से राष्ट्रीय भावना या राष्ट्रवाद का भी उदय होता है जो एक राष्ट्र और उसके जनसमूह को दूसरे राष्ट्र और जनसमूह से अलग करती है। पारिभाषिक तौर पर यदि समझा जाए तो हम राष्ट्र को एक ऐसे जनसमूह के रूप में समझ सकते हैं जो एक भौगोलिक सीमाओं से निश्चित क्षेत्र में रहता हो, जो समान परम्पराओं, समान हितों और समान भावनाओं से बंधा हो, और जिसमें एकता के सूत्र में बंधने की उत्कंठा और समान राजनैतिक आकांक्षाएँ पाई जाती हों। राष्ट्रवाद यह अपेक्षा करता है कि नागरिक, अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को सभी अस्मिताओं से ऊपर रखेंगे।

राष्ट्र की भावना का उभार पूरी दुनिया में बहुत ही कम समय में मजबूत अस्मिता के रूप में सामने आया। इस राष्ट्र और राष्ट्रवाद की धारणा ने जहाँ एक ओर बड़े जनसमूह को आपस में बांधने का काम किया वहीं इसने एक जनसमूह को दूसरे से अलगाने का काम भी किया। आज दुनिया भर में लोग किसी न किसी राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़े हुए हैं और वह अपनी इस राष्ट्रीय अस्मिता के लिए कुछ भी कर गुजरने को तत्पर रहते हैं। दुनिया में तमाम देश और उनके लोग इस राष्ट्रीय अस्मिता के चलते अपने को अन्य राष्ट्रीयताओं से श्रेष्ठ समझते हैं। भारत जैसा देश कई राष्ट्रीय अस्मिताओं से मिलकर बना है, जहाँ विविधता और अलग पहचान के आग्रह की जड़ें बहुत गहरी हैं और कई बार ये संघर्ष का रूप ले लेती हैं। भारत में एक राज्य के लोग अपने को दूसरे राज्य के लोगों से अलग समझते हैं और यहाँ हर राज्य में स्थानीय और बाहरी के बीच संघर्ष बना रहता है, जिसको लेकर भारत में विभिन्न राजनीतिक दल अपनी राजनीति करते हैं।

ऐतिहासिक रूप से, भारत में अस्मिता के रूप में राष्ट्र का बनना ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ होने वाले आंदोलनों से शुरू हुआ। आधुनिक समय में एक अवधारणा के रूप में राष्ट्र पहले आ चुका था। परंतु ब्रिटिशों के बरअक्स स्वदेशी आंदोलन और देशजता को लेकर जो मुहिम शुरू हुई उसने राष्ट्र की अस्मिता को मजबूत किया।

सुधीर रंजन लिखते हैं कि "राष्ट्रवाद की जितनी सीमाएँ गिनाई

जाती हैं, उन्हें मंजूरी देते हुए इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जाना चाहिए कि उसके बगैर उपनिवेशवाद-विरोध का कोई आख्यान नहीं तैयार हो सकता था, और न ही राष्ट्रीय जनो की वह एकता संभव थी, जो तमाम मतभेदों और छोटे-मोटे संघर्षों के बावजूद एक हद तक बनी हुई है। उसकी इस शक्ति को उत्तर-औपनिवेशिक संदर्भ में प्रभावशाली अर्थ दिया जा सकता है।¹ अन्य अस्मिताओं के संघर्ष को ध्यान में रखते हुए भी ब्रिटिश काल में जो राष्ट्रीय अस्मिता उभर कर सामने आई वह उस वक्त की जरूरत थी, जबकि राष्ट्र के भीतर कई तरह के मतभेद बने ही रहे। जब ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने भारत से जाने की घोषणा कर दी और सन सैंतालीस के बाद ऐसी पहचानें और उभर कर सामने आईं जो उस वक्त कमजोर सी दिख रही थीं। उन्होंने संवैधानिक और समाज के भीतर सांस्कृतिक संघर्ष को और तेज किया। एस.एन. मुखर्जी अपनी किताब सर विलियम जोन्स: ए स्टडी इन एटीन्थ सेंचुरी ब्रिटिश एटीट्यूड टू इंडिया में लिखते हैं, "इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक राष्ट्रवाद ब्रिटिश सरकार के द्वारा विकसित की जा रही नई सामाजिक व्यवस्था का परिणाम था। लेकिन भारत अतीत पर निर्भर हुए बगैर शायद ही पश्चिम द्वारा खड़ी की जा रही सांस्कृतिक चुनौती का सामना कर सकता था। यह जोन्स और उसके द्वारा स्थापित सोसायटी ही थी जिसने यह खोजा कि भारत में भी प्राचीन विश्व की सभ्यताओं की टक्कर में एक सभ्यता मौजूद थी।"² राष्ट्र के उदय और राष्ट्रीयता के बनने की प्रक्रिया पर जॉन स्टुअर्ट मिल ने हाब्सन को उद्धृत करते हुए लिखा है:

मानव-जाति का कोई हिस्सा एक राष्ट्र की संस्थापना की बात कह सकता है यदि उसके लोग उस समान अनुभूति के आधार पर जुड़ते हैं जिसका उनमें और दूसरों में अस्तित्व ही नहीं होता है। राष्ट्रवाद की यह भावना विभिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी यह बात नस्ल और वंश की अस्मिता के प्रभाव के कारण होती है। भाषा-समुदाय और धर्म-समुदाय का इसमें गहरा योगदान होता है। भौगोलिक सीमाएँ भी उन्हीं कारणों में से हैं। लेकिन पूर्व विद्यमान राजनीतिक वृत्तान्त, राष्ट्रीय इतिहास पर कब्जा और गौरवपूर्ण समुदाय की स्मृति, सामूहिक अभिमान और अपमान, आनंद और दुख, अतीत में घटी समान घटनाएँ सबसे शक्तिशाली कारण होते हैं।"³

परन्तु जो कारण किसी राष्ट्र के बनने के लिए उत्तरदायी होते हैं, वे सदैव वैसे ही बने रहेंगे जैसे वे राष्ट्र के बनने की प्रक्रिया में थे, ऐसा संभव नहीं है। इन कारणों में होने वाले बदलावों के साथ राष्ट्र की सीमा और उसकी रूपरेखा में भी परिवर्तन हो जाता है। इस सन्दर्भ में किशन पटनायक लिखते हैं, "दुनिया के इतिहास में राष्ट्र बनते हैं, बिगड़ते हैं, सीमाएँ बदलती हैं। आज के राष्ट्र हजार साल बाद ज्यों के त्यों नहीं रहेंगे। भारत भी वैसा

नहीं रहेगा, जैसा आज है। लेकिन किसी काल-खंड में एक समूह का आचरण आगे के परिवर्तनों को प्रभावित करता है। इसलिए सवाल वर्तमान का होता है— हम चुनौतियों का मुकाबला किस तरह से कर रहे हैं? टूट रहे हैं या जुटे हुए हैं? ⁴ यानी राष्ट्र कोई ऐसी अस्मिता नहीं है जो निरपेक्ष व निर्विवाद हो। सीमाएं और राष्ट्र की संवेदनाओं का बदलाव होना एक समय सापेक्ष विचार है। राष्ट्रीयता की मांग के जो तत्व हैं, चाहे वे भौगोलिक सीमाएं हो या फिर भाषा समुदाय हो या राष्ट्रीय इतिहास पर कब्जेदारी, इन्हीं के आलोक में हम किसी राष्ट्र की अलग पहचान को आसानी से समझ सकते हैं। सुधीर रंजन के अनुसार, “भारत में राष्ट्रवाद का उदय, दूसरे, पूर्वी देशों के समान, बहुत हद तक यूरोपीय श्रेष्ठता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। राष्ट्रवाद यह सच है, सिद्धांत रूप में यूरोपीय आविष्कार है, जिसे पूर्वी देशों ने पश्चिमी भौतिक प्रगति के महत्व को स्वीकार करते हुए अपनाया। लेकिन समान रूप से उन्होंने पश्चिमी वर्चस्व का प्रतिकार भी किया। प्रगति सबको स्वीकार होती है लेकिन पराधीन रहकर नहीं। व्यक्तियों से अधिक यह बात जनसमूहों पर लागू होती है।” ⁵

इसलिए राष्ट्र के साथ अपने जुड़ाव को देखना इस बात पर भी निर्भर करता है कि राष्ट्र के भीतर उस समुदाय की जगह क्या है। वह शासक के रूप में है या शासित के रूप में। इसलिए अपने एक अन्य कथन में सुधीर रंजन भारतीय राष्ट्रवाद को अलग तरह से व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि “पश्चिम में राष्ट्रवाद एक राजनीतिक तथ्य है जो जमींदारी आधारित सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष के परिणाम के रूप में आया। भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का प्रथम संदर्भ सांस्कृतिक है राजनीतिक राष्ट्रवाद का उदय बाद में हुआ।” ⁶ वैसे गौर करें तो अभी का भारतीय राष्ट्र उस तौर पर ब्रिटिश काल में भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आधार पर नहीं बना था बल्कि जो भारत के प्रमुख हिन्दी भाषी राज्य थे वहीं यह उपजा और हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान जैसे नारे के रूप में सामने आया। इसलिए राष्ट्र की यह अस्मिता कई मायने में धार्मिक अस्मिता की सीमा तक चली जाती है। इसलिए इस राष्ट्रीय विचार के साथ भारत के अन्दर ही विभिन्न जातीय और आदिवासी समूहों के संबंध समस्याग्रस्त रहे हैं।

अंग्रेजों से आजादी की लड़ाई के वक्त डॉ. बी. आर. आंबेडकर ने इस वर्णवादी समाज को व्यापक राष्ट्रीय अस्मिता के लिए खतरा माना। इसलिए आंबेडकर भी ऐसी किसी राष्ट्रीयता के पक्ष में नहीं थे जहाँ उसी राष्ट्र के लोगों के साथ सामान व्यवहार न किया जाता हो। कँवल भारती लिखते हैं,

वास्तव में दलित और ब्राह्मण न तो दो अलग-अलग राष्ट्र हैं न दो अलग-नस्लें। यह अलग-अलग वर्ण और जातियाँ हैं। इसलिए दोनों के बीच जो सामाजिक अलगाव है, जो ऊँच-नीच का भेदभाव है, उसका कोई तर्कसंगत और वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह पूरी तरह से अमानवीय व्यवस्था है, जो ब्राह्मण ने धर्म के आधार पर खड़ी की है। ब्राह्मण ने इसे धर्म-संहिता का रूप दिया। इस धर्म-संहिता में, जो वर्ण व्यवस्था के नाम से प्रचलित है, ब्राह्मण सर्वोपरि है, दूसरे स्थान पर क्षत्रिय है और तीसरे स्थान पर वैश्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज कहा जाता है। द्विज का अर्थ है दूसरा जन्म। यह दूसरा जन्म 'उपनयन' संस्कार को कहा गया है। उपनयन संस्कार, अर्थात् जनेऊ संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का होता है। इसी उपनयन अर्थात् दूसरे जन्म के कारण उन्हें द्विज कहा जाता है। चौथे स्थान पर अर्थात् निम्न अवस्था में शूद्र आते हैं। इनका उपनयन संस्कार नहीं होता। इसलिए ये दूसरे जन्म से वंचित हैं। वर्ण व्यवस्था में इनका कार्य और मुख्य धर्म द्विजों की ही सेवा

करना है। पढ़ना-लिखना, स्वतंत्र होकर व्यवसाय करना, धन अर्जित करना और शस्त्र धारण करना इनके लिए प्रतिबंधित है।” ⁷

इस तरह जाति की अस्मिता और राष्ट्र की अस्मिता में बुनियादी फर्क है। एक राष्ट्र के भीतर कई तरह के भेदभावों ने जातीय अस्मिता के संघर्ष को भिन्न तरह से प्रस्तुत किया है। जातीय अस्मिता के अलावा एक राष्ट्र के भीतर और भी कई तरह की अस्मिताएं होती हैं इस रूप में हम आदिवासी समाज को देख सकते हैं। डॉ. प्रभाकर सिंह लिखते हैं

राष्ट्रवाद की संकल्पना में आदिवासी समाज की विवेचना करना भी जरूरी है। हम जिसे भारतीय राष्ट्रवाद कहते हैं वह औपनिवेशिक मानसिकता से पोषित और ग्रसित राष्ट्रवाद है, पूंजीवादी राष्ट्रवाद। असल में पूंजीवादी राष्ट्रवाद की ही देन है एक भाषा, एक राष्ट्र एक संस्कृति और एक धर्म। भारत बहुभाषी और सांस्कृतिक बहुलता का राष्ट्र है। यहाँ कई धर्म, भाषाएँ और संस्कृति मिलकर भारतीय राष्ट्र की अवधारणा को पूरी करती हैं। पूंजीवादी राष्ट्रवाद, और अब तो इससे भी ज्यादा खतरनाक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है जो धर्म और संस्कृति के नाम पर 'हिन्दू धर्म' के कट्टर स्वरूप का विस्तार कर रहा है। आदिवासियों की सांस्कृतिक भाषायी और प्राकृतिक शक्ति को उनसे छीनकर उनकी अस्मिता को खत्म करने की साजिश को पहचानना जरूरी है। तभी आदिवासी विमर्श और संघर्ष की सफलता होगी। ⁸

इस तरह देखें तो आदिवासी अस्मिता पर ज्यादा बड़ा हमला पूंजीवाद का है क्योंकि यह उनके जल, जंगल, जमीन को लूट कर उनकी सांस्कृतिक संरचना को नष्ट कर रहा है। उनकी अपनी अस्मिता के साथ उनकी संस्कृति की पहचान जुड़ी हुई है और इसका बचना तभी संभव है जब जल-जंगल-जमीन पर होने वाले हमले को रोका जाए। विकास के नाम पर ऐसे समुदायों को तबाह करने का प्रयास किया जा रहा है जो एक भिन्न तरह की संस्कृति को अपने में समाहित किए हुए हैं।

इस तरह ही राष्ट्रीयता के उलट, एक बहुलतावादी लोकतंत्र की अवधारणा भी रही है। के. पी. जायसवाल लिखते हैं कि “संविधान और सामाजिक प्रगति पर किसी प्रजाति विशेष का अधिकार नहीं है। मैं इस बेटुकी बुद्धिमत्ता का समर्थक नहीं हूँ जिसका यह उपदेश है कि कुछ लोगों में ही राजनीतिक ज्ञान मौजूद होता है। राजनीतिक और संवैधानिक प्रगति परिस्थितियों एवं मानवीय शक्तियों की उपज होती है।” ⁹ जायसवाल किसी एक अस्मिता या एक परंपरा को नकारते हुए सभी समुदायों की बुद्धिमत्ता की वकालत करते हैं। यद्यपि यह एक यूनिवर्सलाइजेशन है पर यह ऐसी अस्मिताओं को मजबूत करने की दलील भी प्रस्तुत करता है जिन्हें पिछड़ा कहा जाता है। इसी संदर्भ में श्यामचरण दुबे ने लिखा है, “भारत की सांस्कृतिक चेतना विशिष्ट प्रबुद्ध वर्ग के पूर्वग्रह से पीड़ित है, वह धर्मशास्त्रों में चित्रित भारतीय संस्कृति के सार तत्व तथा प्रधान विषय वस्तु को उभारती है। इस प्रकार से कुछ भी प्रदर्शित किया जाता है, वह बहुत अंशों में भारतीय संस्कृति का पुस्तकीय दृष्टिकोण होता है। यह वह आदर्श संस्कृति है जिसकी नगरीय पढ़े लिखे लोग कल्पना करते हैं, वह जनता की यथार्थ संस्कृति नहीं है।” ¹⁰ दुबे यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि लोक का ज्ञान और ज्ञान की दुनिया दोनों दो मायने रखते हैं। एक का दूसरे के साथ कोई संबंध स्थापित नहीं होता। इसलिए राष्ट्र की अस्मिता के भीतर कई तरह की अस्मिताएं पनप रही होती हैं और कई की मौजूदगी होती है। इस सब के बावजूद राष्ट्र ने दुनिया भर में व्यापक राष्ट्रीय अस्मिता के रूप में पहचान बनाई है। इस तरह से यह समझा जा सकता है कि राष्ट्र की भावना का उभार पूरी दुनिया में बहुत ही कम समय में मजबूत अस्मिता के रूप में उभर कर सामने आया।

संदर्भ सूची

1. सुधीर रंजन सिंह, हिन्दी समुदाय और राष्ट्रवाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ.16.
2. एस.एन. मुखर्जी, सर विलियम जोन्स: ए स्टडी इन एटीन्थ सेंचुरी ब्रिटिश एटीट्यूड्स टू इंडिया, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1968, पृ.140.
3. जे.एस. मिल, जे.ए. हाब्सन की इंपीरियलिज्म में उद्धृत, पृ.3.
4. किशन पटनायक, विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ.206.
5. सुधीर रंजन सिंह, वही, पृ.16.
6. वही.
7. कँवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, साहित्य उपक्रम, 2012, पृ.15-16.
8. डॉ. प्रभाकर सिंह, अनुज लुगुन द्वारा संपादित समय से संवाद: 6, आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध में, अनन्य प्रकाशन, 2015, पृ.62-63.
9. के.पी. जायसवाल, हिंदू पॉलिटि : ए कॉन्सिटीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिंदू टाइम्स (दूसरा खंड), हॉस्टिंगस्ट, 1924, पृ.210.
10. श्यामचरण दुबे, परंपरा, इतिहासबोध और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ.71.